ओ३म्

**‘अपवित्र जीवात्मा पवित्र ईश्वर का साक्षात्कार नहीं कर पाती’**

-मनमोहन कुमार आर्य, देहरादून।

 ईश्वर व जीवात्मा दो पृथक पृथक चेतन सत्तायें हैं। दोनों ही अनादि, नित्य, अनुत्पन्न, अविनाशी, अमर, ज्ञान व कर्म करने की शक्ति से युक्त सत्तायें हैं। दोनों के स्वरूप में कुछ समानतायें और कुछ भिन्नतायें भी है। ईश्वर आकाश के समान सर्वव्यापक है तो जीवात्मा एकदेशी है। ईश्वर और जीवात्मा का व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है। इसका तात्पर्य है कि ईश्वर व जीवात्मा यद्यपि दोनो सूक्ष्म सत्तायें हैं परन्तु ईश्वर जीवात्मा से भी सूक्ष्म है और जीवात्मा के अन्दर भी व्याप्त अर्थात् विद्यमान है। इसको यदि उदाहरण से समझना हो तो वह यह है कि एक पत्थर में ठोस मिट्टी भी है, अग्नि भी है और आकाश भी है। अग्नि क्योंकि मिट्टी से सूक्ष्म है अतः वह अपने से स्थूल मिट्टी व पत्थर में व्यापक होती है व उसमें रह सकती है। आकाश अग्नि से भी सूक्ष्म होने के कारण इन दोनों में व्यापक हो सकता है और आकाश की तरह ही ईश्वर सर्वातिसूक्ष्म होने से आकाशवत् सभी पदार्थों में व्यापक होता है। **अतः ईश्वर जीवात्मा से भी सूक्ष्म होने से इसके भीतर विद्यमान रहता है, इसी को ईश्वर और जीवात्मा का व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध कहते हैं।** यह संबंध देश व काल से अप्रभावित रहते हुए सदा-सर्वदा वर्तमान वा विद्यमान रहता है अर्थात् ईश्वर व जीवात्मा के इस व्याप्य-व्यापक संबंध का आरम्भ और अन्त नहीं है। ईश्वर व जीवात्मा के परस्पर अनेक सम्बन्धों में से एक सम्बन्ध ईश्वर का जीवात्मा का सच्चा मित्र होना भी है। ईश्वर जीवात्मा का साथ एक क्षण के लिए भी नहीं छोड़ता। जन्म व मृत्यु के बीच की अवधि व जन्म से पूर्व व मृत्यु के पश्चात भी ईश्वर की जीवात्मा पर माता-पिता व एक मित्र के समान कृपा बनी रहती है। जीवात्मा पर कुसंस्कारों के मल विक्षेप व आवरण होने के कारण यह ईश्वर को भूला रहता है। इसका अर्थ सांसारिक कार्यों में मग्न व व्यस्त रहना भी है। अज्ञान व स्वार्थ के कामों में लिप्तता सहित जीवात्मा काम, क्रोध, लोभ व मोह आदि अवगुणों व विकारों से ग्रसित भी रहता है। यह मल व विक्षेप रूपी दुर्गुण ही ईश्वर व जीवात्मा के बीच आवरण का कार्य करते हैं जिससे जीवात्मा अपवित्र होकर ईश्वर के सत्य व यथार्थ स्वरूप से विमुख हो विमूढ़ अवस्था में रहता है। जिस प्रकार अशुद्ध व अपवित्र ईधन से किसी गाड़ी र्का इंजन नहीं चलता अर्थात् गाड़ी को चलाने के लिए उसके ईंजन के अनुरूप ईधन की आवश्यकता होती है, इसी प्रकार ईश्वर के साक्षात ज्ञान के लिए भी जीवात्मा का विकारों से रहित शुद्ध और पवित्र होना आवश्यक है।

जीवात्मा में मल व विक्षेप रूपी अपवित्रता कहां से व किस प्रकार आती है, यह विचारणीय प्रश्न है? यह मल आदि विकार जीवात्मा में असत् अर्थात् वेद विरुद्ध आचरण व कर्म करने से आते हैं। मनुष्य यदि वेदाध्ययन कर अर्जित ज्ञान के अनुसार आचरण करता है तो उसके यह मल दूर होकर उसकी ईश्वर से निकटता उत्पन्न होती है। अतः मनुष्य को सद्गुणों के विकास के लिए तामसिक व राजसिक गुणों वाले सामिष भोजन का त्याग कर सात्विक गुणों की प्रचुरता वाले शुद्ध शाकाहारी भोजन का ही ग्रहण भोजन के नियमों के अनुसार करना चाहिये। पश्चिमी देश व भारत सहित अन्य प्रायः सभी देशों में मनुष्य तामसिक व राजसिक भोजन का सेवन करते हैं जिसमें पशुओं के मांस, मछली, अण्डे सहित मिर्च-समालों से युक्त तले-भुने भोजन होते हैं। जैसा खाये अन्न वैसा बने मन की किंवदन्ति के अनुसार भोजन का प्रभाव मन पर पड़ने से मनुष्य के कर्म मलिन व अपवित्र हो जाते हैं। योग विद्या ही ईश्वर की प्राप्ति में एक मात्र उपाय है जो मांसाहारी व तामसिक मलिन भोजन करने वालों को सिद्ध नहीं होती। अतः सामिष, तामसिक व राजसिक भोजन का सर्वथा त्याग ही मनुष्य जीवन की उन्नति, अभ्युदय व निःश्रेयस के लिए आवश्यक है। यदि हम ऐसा नहीं करेंगे तो ईश्वर विषयक शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति व ईश्वर के साक्षात्कार से वंचित रहकर अपने जीवन को रोगी और अल्पजीवी ही बनायेंगे।

यह ध्यान देने योग्य महत्वपूर्ण बात है कि येन केन प्रकारेण धन बटोर लेने से ही जीवन की उन्नति नहीं होती, यह धन तो शरीर को सुविधा के साधन ही प्रदान करा सकता है अन्य कुछ नहीं। जीवन की वास्तविक उन्नति तो वेदों व वैदिक साहित्य में निहित सद्ज्ञान के धारण व आचरण करने, यज्ञ, परोपकार, दान, योगाभ्यास व व्यायाम करने तथा शुद्ध भोजन से ही होती है। आज देश व समाज में बड़े बड़े धनिक देखे जाते हैं परन्तु वह वेदों व उपासना के सत्य ज्ञान से कोसों दूर हैं। यदि वह धन संग्रह को ही अपनी उन्नति समझते हैं तो यह उनकी भारी भूल है। मनुष्य जीवन का प्रमुख कर्तव्य ईश्वर व स्वात्मा का ज्ञान व ईश्वर की वेद विधि से उपासना करना भी है। यह वेदाध्ययन, वेदाचारण व योगमय जीवन धन संग्रह की तुलना में श्रेष्ठ होता है। जो लोग वैदिक ज्ञान से अपरिचित होने के कारण इसके विपरीत आचरण करते हैं वह जीवन के वास्तविक सुख से दूर होने के साथ अपना परजन्म भी खराब कर रहे हैं। न वह ईश्वरोपासना व यज्ञ-याग युक्त वैदिक जीवन के महत्व व रहस्य को समझ सकते हैं और न ही उनकी प्रवृत्ति इन विषयों को समझने में उन्हें तत्पर करती है जिससे बड़े बड़े ज्ञानी भी ऐसे लोगों को सत्यमार्ग पर नहीं ला सकते। महर्षि दयानन्द जी जैसे आप्त पुरुष व अन्य उच्च ज्ञानियों का सम्पर्क पाकर भी अधिकांश सांसारिक लोग स्वयं को बदल नहीं पाये। ऐसे लोग धनोपार्जन व सुख-सुविधाये एकत्र कर उन्हें भोगते हुए ही रोगी होकर संसार से चले जाते हैं। अतः सभी ज्ञानी व अज्ञानी मनुष्यों को आर्यसमाज के चैथे नियम पर अवश्य विचार करना चाहिये जो कहता है कि **‘सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा तत्पर रहना चाहिये।’** इस नियम को गहनता से समझ कर हम व सभी मनुष्य इसके अनुरूप आचरण करें तो वह ईश्वरोपासना व परोपकार आदि कार्यों को करते हुए धनोपार्जन के साथ इनका सन्तुलन बना कर अपने जीवन का कल्याण कर सकते हैं।

सत्य का धारण और आचरण ही धर्म कहलाता है। सत्य मनुष्यों के लिए करणीय वह विधान हंै जो ईश्वर प्रेरित वेद में विद्यमान है। यह भी जानने योग्य है कि वेदों के सत्य अर्थ महाभारत से पूर्व के प्राचीन काल के हमारे ऋषि-मुनि करते थे। इसके बाद अयोग्यता के कारण लोगों ने वेदों के मिथ्या अर्थ भी कर डाले जिनसे हमें बचना है। उन्नीसवीं शताब्दी व उसके बाद वेदों के सत्य यथार्थ अर्थ महर्षि दयानन्द सरस्वती व उनके अनुयायियों ने किये हंै। वैदिक धर्म व संस्कृति का मूल आधार वेद हैं। मनुष्यों के दैनिक कर्तव्यों का विधान ऋषि दयानन्द ने अपनी पुस्तक पंचमहायज्ञविधि में किया है। पंचमहायज्ञ विधि का अध्ययन कर मनुष्य को प्रातः सायं सन्ध्या व यज्ञ में प्रवृत्त होना चाहिये और अन्य यज्ञों पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ और बलिवैश्वदेव यज्ञ भी करने चाहिये। इन यज्ञों को करने की सरल विधि भी पुस्तक में दी गई है। सन्ध्या का मुख्य उद्देश्य ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना व उपासना है। स्तुति ईश्वर के वेद वर्णित गुणों का वाणी से उच्चारण कर की जाती है। इसे मौन रहकर ईश्वर के ध्यान में अवस्थित होकर भी किया जा सकता है। स्तुति में ईश्वर के गुणों का उल्लेख करने से उसके अनुसार अपने आचरण को सुधारना अभीष्ट होता है। इससे ईश्वर के प्रति प्रेम में वृद्धि होने से ईश्वर के ज्ञान व साक्षात्कार में सहायता मिलती है। ईश्वर से प्रार्थना में ईश्वर से कुछ मांगना होता है। जैसे कि हे सकल जगत के उत्पत्तिकर्ता, समग्र ऐश्वर्ययुक्त, सब सुखों के दाता परमेश्वर ! आप कृपा करके हमारे सम्पूर्ण दुर्गुण, दुर्व्यसन और दुःखों को दूर कर दीजिए। यह भी प्रार्थना करते हैं कि जो कल्याणकारक गुण-कर्म-स्वभाव और पदार्थ हैं, वह सब हमकों प्राप्त कीजिए। ईश्वर व जीवात्मा का व्याप्य-व्यापक संबंध होने के कारण ईश्वर हमारी स्तुति-प्रार्थना को सुनता है व हमारी पात्रता के अनुरूप उसे पूरा करता है। एक स्थान पर आसन में स्थिर होकर ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना व ध्यान करने को ही उपासना कहते हैं। इसी प्रकार पंचमहायज्ञ विधि के अनुसार अग्निहोत्र, पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ और बलिवैश्वदेव यज्ञ भी किये जा सकते हैं व सबको करने चाहिये। इन पांच कर्तव्यों का ईश्वर साक्षात्कार में योगदान इस प्रकार है कि इससे हमारा मन शुद्ध व पवित्र होने से ईश्वर में उत्तरोत्तर प्रीति की वृद्धि होती जाती है जो ईश्वर के साक्षात्कार में सहायक होती है। इन सब साधनों का उद्देश्य हमारे मन व आत्मा को शुद्ध व पवित्र करना ही होता है।

जिस प्रकार दर्पण में मल की परत जमी हो तो हम उसमें अपना मुख नहीं देख पाते। गतिशील जल में भी हम अपना चित्र नहीं देख पाते एव अशुद्ध खाद्य पदार्थ वा वस्त्र भी हमें अच्छे नहीं लगते वा हम इनका प्रयोग नहीं करते। इसी प्रकार यदि हमारा मन व आत्मा अपवित्र है तो इन दूषित साधनों से पवित्रतम ईश्वर के दर्शन नहीं हो पाते। इसके लिए मन को शुद्ध बनाकर आत्मा को भी शुद्ध व पवित्र बनाना होगा तभी ईश्वर का साक्षात्कार सम्भव है। इसी कार्य को करने के लिए वैदिक विचारधारा व साधन आदि हैं जिनसे हमारा मन व जीवन शुद्ध होता है। आईये ! इस संसार की सबसे बड़ी शक्ति जिसने इस संसार को बनाया व हमें हमारा शरीर ही नहीं दिया अपितु इसके उपभोग की सभी वस्तुयें भी उसी ने बनाईं हैं, उसको पाने के लिए अपने मन व आत्मा को शुद्ध बनायें जिससे उसका साक्षात्कार हो सके। इति।

**-मनमोहन कुमार आर्य**

**पताः 196 चुक्खूवाला-2**

**देहरादून-248001**

**फोनः09412985121**